वीतराग-विज्ञान (अक्टूबर-मासिक) 26 सितम्बर 2011 ● वर्ष 30 ● अंक 3

# सम्पादकीय

## नियमसार : एक अनुशीलन

**( गतांक से आगे )**

नौवाँ छन्द इसप्रकार है –

( पृथ्वी )

**प्रनष्टदुरितोत्करं प्रहतपुण्यकर्मव्रजं**
**प्रधूतमदनादिकं प्रबलबोधसौधालयम् ।**
**प्रणामकृततत्त्ववित् प्रकरणप्रणाशात्मकं**
**प्रबृद्धगुणमंदिरं प्रहृतमोहरात्रिं नुमः ।।१५१ ।।**

( रोला )

**पुण्य-पाप को नाश काम को खिरा दिया है।**
**महल ज्ञान का अरे काम ना शेष रहा है।।**
**पुष्ट गुणों का धाम मोह रजनी का नाशक।**
**तत्त्ववेदिजन नमें उसी को हम भी नमते।।१५१।।**

जिसने पापपुंज को नष्ट किया है, पुण्यकर्म के पुंज को नष्ट किया है, जिसने कामदेव को धो डाला है, जो प्रबल ज्ञान का महल है, जिसे तत्त्ववेत्ता भी प्रणाम करते हैं, जिसे कोई कार्य करना शेष नहीं है, जो कृतकृत्य है, जो पुष्ट गुणों का धाम है और जिसने मोहरात्रि का नाश किया है; उस सहजतत्त्व को हम नमस्कार करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''आत्मा सहजतत्त्व है, उसने पुण्य-पाप समूह का नाश कर दिया है। पुण्य-पाप नये-नये उत्पन्न होते हैं और आत्मा तो अनूतन अर्थात् उत्पाद-विनाश से रहित ज्यों का त्यों है। उसमें पुण्य-पाप का अभाव है, इसलिए ऐसा कहा जाता है कि सहज तत्त्व ने पुण्य-पाप का नाश किया है, वास्तव में तो त्रिकाली सहजात्मतत्त्व में पुण्य-पाप का अभाव ही है। उस त्रिकाली सहजतत्त्व ने काम, क्रोध, हास्यादि की वासनाओं को भी खदेड़ डाला है अर्थात् सहजतत्त्व में त्रिकाल कामवासनाओं का अभाव ही है।[१]

अहो! ऐसे सहजतत्त्व का भान जिस पर्याय में हुआ हो, वह पर्याय भी धन्य है – ऐसी महिमापूर्वक तत्त्ववेत्ता उस सहजतत्त्व को ही नमस्कार करते हैं।[२]

हे जीव! ऐसे सहजतत्त्व की महिमा करो, रुचि करो और उसकी ही भावना करो, क्योंकि उसकी भावना से ही प्रत्याख्यान होता है।[३]

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८७६-८७७
२. वही, पृष्ठ ८७७ ३. वही, पृष्ठ ८७७

जो जीव ऐसे तत्त्व की महिमापूर्वक रुचि करता है, वह मोक्षमार्ग में आरूढ़ हो जाता है; इसलिए ऐसे सहजतत्त्व को यथार्थ जानकर उसकी ही भावना करना चाहिए।[१]''

इन सभी छन्दों में सहजतत्त्वरूप भगवान आत्मा की महिमा ही बताई जा रही है। इस छन्द में यह कहा जा रहा है कि इस भगवान आत्मा ने पुण्य और पाप – दोनों ही भावों का नाश किया है। तात्पर्य यह है कि **इस सहजतत्त्वरूप त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा में पुण्य-पाप के भाव हैं ही नहीं। इसका स्वभाव ही पुण्य-पाप के भावों के अभावरूप है। इस स्थिति को ही यहाँ नाश कहा है।**

यह भगवान आत्मा ज्ञान का महल है, इसे तत्त्ववेत्ता भी प्रणाम करते हैं। यह कृतकृत्य है; क्योंकि इसे कोई काम करना शेष नहीं है। यह स्वभाव से ही कृतकृत्य है। यह अनंतगुणों का धाम है और इसमें मोहरूपी रात्रि का अभाव कर दिया है, यह निर्मोह है। ऐसे सहजतत्त्व को हम सभी बारंबार नमस्कार करते हैं।।१५१।।

अधिकार के अन्त में टीकाकार मुनिराज स्वयं लिखते हैं कि **इसप्रकार सुकविजनरूपी कमलों के लिए जो सूर्य समान हैं और पाँच इन्द्रियों के विस्तार रहित देहमात्र जिन्हें परिग्रह था, ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसार (आचार्य कुन्दकुन्द प्रणीत) की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में निश्चयप्रत्याख्यानाधिकार नामक छठवाँ श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।**

## परमालोचनाधिकार

**( गाथा १०७ से गाथा ११२ तक )**

### नियमसार गाथा १०७

अब आलोचना अधिकार कहा जाता है। आलोचना अधिकार की पहली और नियमसार की १०७वीं गाथा इसप्रकार है –

**णोकम्मकम्मरहियं विहावगुणपज्जएहिं वदिरित्तं।**
**अप्पाणं जो झायदि समणस्सालोयणं होदि।।१०७।।**

( हरिगीत )

**जो कर्म से नोकर्म से अर विभावगुणपर्याय से।**
**भी रहित ध्यावे आतमा आलोचना उस श्रमण के।।१०७।।**

जो श्रमण कर्म, नोकर्म और विभावगुणपर्याय से भी रहित आत्मा का ध्यान करता है; उस श्रमण को आलोचना होती है।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''यह निश्चय आलोचना के स्वरूप का कथन है।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८७८

औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण शरीर ही नोकर्म हैं और ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय, मोहनीय, वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र - ये आठ कर्म ही द्रव्यकर्म हैं।

कर्मोपाधि से निरपेक्ष शुद्ध सत्ता के ग्राहक शुद्धनिश्चयद्रव्यार्थिकनय से आत्मा इन द्रव्यकर्मों और नोकर्मों से रहित है।

मतिज्ञानादिक विभाव गुण हैं और नर-नारकादि व्यंजनपर्यायें विभावपर्यायें हैं; क्योंकि गुण सहभावी होते हैं; और पर्यायें क्रमभावी होती हैं। आत्मा इन सब गुण-पर्यायों से भिन्न है और स्वभावगुण-पर्यायों से संयुक्त है।

इसप्रकार इन कर्म-नोकर्म एवं विभावगुणपर्यायों से भिन्न एवं स्वभाव गुणपर्यायों से संयुक्त; त्रिकाल निरावरण, निरंजन आत्मा को, तीन गुप्तियों से गुप्त परमसमाधि द्वारा जो परमश्रमण अनुष्ठानसमय में वचनरचना के प्रपंच (विस्तार) से पराङ्गमुख रहता हुआ नित्य ध्याता है; उस भावश्रमण को निरन्तर निश्चय आलोचना होती है।''

पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

''**प्रश्न** - प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना नव तत्त्व में से किस तत्त्व में आते हैं ?

**उत्तर** - निश्चयप्रतिक्रमण, आलोचना और प्रत्याख्यान चारित्र के भेद हैं, इसलिए मोक्ष के उपाय होने से संवर-निर्जरातत्त्व में आते हैं। तथा जो शुभाशुभभावरूप व्यवहार प्रतिक्रमण आदि हैं; वे आस्रवरूप होने से आस्रवतत्त्व में आते हैं।[१]

पहले शुद्धात्मा को ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और शरीरादि नोकर्मरूप परद्रव्य से भिन्न बताया, अब अपनी विकारी पर्याय से भिन्न बताते हैं -

**मतिश्रुतज्ञानपर्याय विभावगुण हैं, क्योंकि इनके आश्रय से निर्मलदशा प्रगट नहीं होती। आत्मा का स्वरूप मतिश्रुतज्ञानपर्याय मात्र नहीं है, इसलिए पर्यायबुद्धि छुड़ाने के लिए उन्हें विभावगुण कहा है और नर-नारकादिपर्याय विभाव व्यंजन-पर्याय हैं।**

शरीर का आकार तो भिन्न है ही; लेकिन शरीराकार आत्मप्रदेशों का जो अरूपी आकार है, वह विभावव्यंजनपर्याय है, शुद्धात्मा उससे भी भिन्न है। शरीर से, कर्म से, रागादि से और मतिज्ञानादिक विभावपर्यायों से तो आत्मा भिन्न है ही; तथा आत्मा के प्रदेशों की जो विभावरूप आकृति, उससे भी भगवान आत्मा भिन्न है।

यहाँ मतिज्ञानादिक को त्रिकालीगुण के रूप में नहीं कहा है, बल्कि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान की पर्याय को एक साथ रहने की अपेक्षा उन्हें सहभावी गुण कहा है; परन्तु

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८८०

वास्तव में तो वे विभावपर्यायें ही हैं। यहाँ तो पर्याय बुद्धि छुड़ाकर द्रव्यदृष्टि कराना है, क्योंकि उसके बिना संवर नहीं होता।[१]

**त्रिकाली तत्त्व स्वभावगुणपर्यायों से परिपूर्ण है – ऐसे आत्मा को लक्ष्य में लेकर जो उसमें एकाग्र होता है, वह भावश्रमण है और उसे ही वास्तविक आलोचना होती है। चैतन्यतत्त्व की जानकारी बिना प्रतिक्रमण, सामायिक, आलोचना आदि कोई भी धर्म प्रगट नहीं होता।**[२]

द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित शुद्धात्मा का जो अन्तरंग में स्थिरतापूर्वक अवलोकन करता है, उसे भावश्रमण कहा है। इसके अलावा पंचमहाव्रत पालने से या दिगम्बर होकर जंगल में रहने से भावश्रमण नहीं कहलाता।

मुनिराज चैतन्य की परमसमाधि में ऐसे गुप्त हो जाते हैं कि अन्दर क्या करते हैं? – इसकी अन्य जीवों को खबर ही नहीं पड़ती। मुनिराज शरीर का लक्ष्य छोड़कर अन्दर चैतन्य के ध्यान में लीन होकर शरीर-मन-वाणी की गुप्ति से गुप्त हो गये हैं – ऐसे मुनियों को ही निश्चय आलोचना होती है।[३]''

**इसप्रकार इस गाथा और इसकी टीका में यही कहा गया है कि औदारिकादि शरीररूप नोकर्म और ज्ञानावरणादिरूप द्रव्यकर्मों से तथा मतिज्ञानादि विभावगुण और नरनारकादि व्यंजनपर्यायों से भिन्न तथा स्वभावगुणपर्यायों से संयुक्त आत्मा को जो मुनिराज परमसमाधि द्वारा ध्याते हैं; उन मुनिराजों को निश्चय आलोचना होती है ।।१०७।।**

इसके उपरान्त टीकाकार मुनिराज **तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः** – तथा आचार्य अमृतचन्द्र के द्वारा भी कहा गया है – ऐसा कहकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं, जो इसप्रकार है –

( आर्या )

**मोहविलासविजृम्भितमिदमुदयत्कर्म सकलमालोच्य।**
**आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते।।५८।।**[४]

( रोला )

**मोहभाव से वर्तमान में कर्म किये जो।**
**उन सबका आलोचन करके ही अब मैं तो।।**
**वर्त रहा हूँ अरे निरन्तर स्वयं स्वयं के।**
**शुद्ध बुद्ध चैतन्य परम निष्कर्म आत्म में।।५८।।**

मोह के विलास से फैले हुए इन उदयमान कर्मों की आलोचना करके अब मैं चैतन्यस्वरूप निष्कर्म आत्मा में आत्मा से ही वर्त रहा हूँ।

---

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८८२-८८३
२. वही, पृष्ठ ८८४
३. वही, पृष्ठ ८८४
४. समयसार, कलश २२७

इस कलश में यही कहा गया है कि **मोहकर्म के उदय में होनेवाले भावकर्मों की आलोचना करके अब मैं स्वयं में अर्थात् स्वयं के शुद्ध-बुद्ध निरंजन निराकार आत्मा में ही वर्त रहा हूँ, लीन होता हूँ, लीन हूँ।।५८।।**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज **उक्तं चोपासकाध्ययने** – उपासकाध्ययन में भी कहा है – ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है –

( आर्या )

**आलोच्य सर्वमेनः कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम्।**
**आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निःशेषम्।।५९।।[१]**

( रोला )

**किये कराये अनुमोदित पापों का अब तो।**
**आलोचन करता हूँ मैं निष्कपट भाव से।।**
**अरे पूर्णतः उन्हें छोड़ने का अभिलाषी।**
**धारण करता यह महान व्रत अरे आमरण।।५९।।**

अब मैं कृतकारितानुमोदित अर्थात् किये हुए, कराये हुए और अनुमोदना किये हुए सभी पापों की निष्कपटभाव से आलोचना करके मरणपर्यन्त रहनेवाले परिपूर्ण महाव्रत धारण करता हूँ।

इस छन्द में यही कहा गया है कि **मेरे द्वारा अबतक किये गये, कराये गये और अनुमोदना किये गये सभी प्रकार के पापभावों की निष्कपटभाव से आलोचना करके, मरणपर्यन्त के लिए उनके त्याग का महाव्रत लेता हूँ, संकल्प करता हूँ।।५९।।**

इसके बाद टीकाकार मुनिराज **तथाहि** लिखकर एक छन्द स्वयं लिखते हैं, जो इसप्रकार है –

( स्रग्धरा )

**आलोच्यालोच्य नित्यं सुकृतमसुकृतं घोरसंसारमूलं**
**शुद्धात्मानं निरुपधिगुणं चात्मनैवावलम्बे।**
**पश्चादुच्चैः प्रकृतिमखिलां द्रव्यकर्मस्वरूपां**
**नीत्वा नाशं सहजविलसद्बोधलक्ष्मीं व्रजामि।।१५२।।**

( रोला )

**पुण्य-पाप के भाव घोर संसार मूल हैं।**
**बार-बार उन सबका आलोचन करके मैं।।**
**शुद्ध आतमा का अवलम्बन लेकर विधिवत्।**
**द्रव्यकर्म को नाश ज्ञानलक्ष्मी को पाऊँ।।१५२।।**

---

१. आचार्य समन्तभद्र : रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक १२५

घोर संसार के मूल सभी पुण्य-पापरूप सभी शुभाशुभ कर्मों की बारंबार आलोचना करके अब मैं निरुपाधिक गुणवाले शुद्ध आत्मा का स्वयं अवलम्बन करके द्रव्यकर्मरूप समस्त कर्म प्रकृतियों को नष्ट करके सहज विलसती ज्ञानलक्ष्मी को प्राप्त करता हूँ।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

''जो जीव चैतन्य को भूलकर पुण्य-पाप में रुचिवान होते हैं, वे जीव चार गतिरूप संसार में रखड़ते हैं। यहाँ शरीर की क्रिया की बात नहीं है, परन्तु दया-दान पूजादिरूप शुभभाव सुकृत हैं और हिंसा, झूठ, चोरी, कुशीलादिरूप अशुभभाव दुष्कृत है - यह सुकृत तथा दुष्कृत दोनों ही घोर संसार के कारण हैं; क्योंकि पुण्य करके स्वर्ग में जावे तो वह भी संसार ही है - इसप्रकार जो पुण्य और पाप दोनों को अपने से भिन्न समझकर अपनी शुद्धात्मा का अवलम्बन लेते हैं, उन्हें संवर होता है।[१]

जिसप्रकार बबूल की जड़ को पानी देने से बबूल का फल प्राप्त होता है और आम की जड़ को पानी देने से आम का फल प्राप्त होता है। उसीप्रकार चैतन्यमूर्ति आत्मा धर्म का मूल है। उसकी रुचि का पोषण करने से मोक्ष प्राप्त होता है और पुण्य-पाप भाव संसार के मूल हैं, उनकी रुचि का पोषण करने से चार गतिरूप घोर संसार में परिभ्रमण होता है। पुण्य के फल में प्राप्त सेठाई या स्वर्ग भी घोर संसार है, उसमें चैतन्य का सुख नहीं है।[२]

**जिसप्रकार मोर अण्डे के छिलके में से उत्पन्न नहीं होता, बल्कि उसके अन्दर रस में से उत्पन्न होता है; उसीप्रकार चैतन्यमूर्ति आत्मा में मोक्ष की शक्ति भरी है, उस शक्ति में से मोक्ष प्रगट होता है। पुण्य-पाप तो छिलके के समान हैं, उसमें से मोक्षदशा प्रगट नहीं होती।**

जिसप्रकार छिलके को तोड़कर मोर प्रगट होता है, उसीप्रकार पुण्य पाप के भावों को भेदकर आत्मा देखने से अर्थात् आत्मा में स्थिर होने से मोक्ष प्रगट होता है। उसी का नाम आलोचना एवं मुनिपना है।

मुनिराज कहते हैं कि **मैं अपने शुद्धात्मा का अवलम्बन करता हूँ, पश्चात् अपने में ही एकाग्र होकर कर्म का नाश करके सहज विलसती केवलज्ञान लक्ष्मी को प्राप्त करूँगा।**[३]''

इसप्रकार इस छन्द में यही कहा गया है कि पुण्य-पापरूप शुभाशुभ भाव संसार के मूल (जड़) हैं और शुद्धात्मा के आश्रयरूप शुद्धभाव मोक्ष का मूल है। इसलिए अब मैं शुद्धभावरूप आत्मा का आश्रय लेकर कर्मों का नाशकर केवलज्ञानरूप लक्ष्मी को प्राप्त करूँगा।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८८६
२. वही, पृष्ठ ८८७ ३. वही, पृष्ठ ८८७

स्वामीजी भी अनेक उदाहरण देकर इसी बात को स्पष्ट करते हुए पुण्य-पाप का हेयत्व और शुद्धात्मा का उपादेयत्व सिद्ध करते हैं।।१५२।।

**नियमसार गाथा १०८**

अब आगामी गाथा में आलोचना के स्वरूप के भेदों की चर्चा करते हैं। गाथा मूलत: इसप्रकार है -

**आलोयणमालुंछणं वियडीकरणं च भावसुद्धी य।**
**चउविहमिह परिकहियं आलोयणलक्खणं समए।।१०८।।**

( हरिगीत )

**आलोचनं आलुंछनं अर भावशुद्धि अविकृतिकरण।**
**आलोचना के चार लक्षण भेद आगम में कहे।।१०८।।**

आलोचन, आलुंछन, अविकृतिकरण और भावशुद्धि - ऐसे चार प्रकार आलोचना के लक्षण शास्त्रों में कहे गये हैं।

इस गाथा के भाव को टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

''यह आलोचना के लक्षण के भेदों का कथन है।

अरहंत भगवान के मुखारविन्द से निकली हुई, सभी जनसमूह के सौभाग्य का कारणभूत, सुन्दर आनन्दमयी अनक्षरात्मक दिव्यध्वनि को समझने में कुशल मन:पर्यय ज्ञानधारी गौतम महर्षि के मुखकमल से निकली हुई जो चतुर वचन रचना, उसके भीतर विद्यमान समस्त शास्त्रों के अर्थसमूह के सार सर्वस्वरूप शुद्ध निश्चय परम आलोचना के चार भेद हैं; जो आगे कहे जानेवाले चार सूत्रों (गाथाओं) में कहे जायेंगे।''

इस गाथा एवं टीका के भाव को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

''**स्वभाव को स्वभावरूप जाने और दोष को दोषरूप जाने तो अपने दोषों की आलोचना करके दोषों का त्याग करे; परन्तु जो जीव दोषों को ही गुण मानता हो, वह दोषों की आलोचना कैसे कर सकता है ?**

स्वयं अपने दोषों को सूक्ष्मता से देख लेना या गुरु के समक्ष प्रगट करना **आलोचन** है। पूर्व में किये हुये पुण्य-पापरूपी दोष मेरे स्वरूप में नहीं हैं - ऐसा समझकर अपने स्वरूप में लीन होकर पुण्य-पाप को उखाड़ फेंकना **आलुंछन** है। पुण्य-पापरूपी विकृति का अभाव करके आत्मा को विकाररहित प्रगट करना **अविकृतिकरण** है और चैतन्यस्वरूप आत्मा के अवलम्बन से भावों की शुद्धता होना **भावशुद्धि** है।

यह चार भेद व्यवहार से हैं, वास्तव में तो एक चैतन्य के अवलम्बन में ही यह चारों भेद आ जाते हैं।

भगवान की दिव्यध्वनि से ग्रहण करके गणधरदेव ने जो शास्त्रों की रचना की है, उनमें आलोचना के चार भेद कहे हैं।[१]

भगवान की दिव्यध्वनि का एवं गणधरदेव द्वारा रचित समस्त सिद्धान्तादि शास्त्रों का सार तो एक परमानन्दमूर्ति आत्मा को देखना और उसके आनन्द में लीन होना है, इसके अलावा पुण्य-पाप आस्रव आदि सारभूत नहीं है। **अन्तर्मुख होकर शुद्धात्मा का अनुभव करना ही सार है। बारम्बार चैतन्य की रुचि करना ही सारभूत है।**[२]''

इसप्रकार इस गाथा और उसकी टीका में यही कहा गया है कि आगम में आलोचना के चार भेद बताये गये हैं; जो इसप्रकार हैं – आलोचन, आलुंछन, अविकृतिकरण और भावशुद्धि। इन चारों के स्वरूप को आगामी चार गाथाओं के माध्यम से आचार्य कुन्दकुन्ददेव स्वयं ही स्पष्ट कर रहे हैं। अत: उनके बारे में यहाँ कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है।।१०८।।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छन्द लिखते हैं, जो इसप्रकार है–

( इन्द्रवज्रा )

**आलोचनाभेदममुं विदित्वा**
**मुक्त्यंगनासंगमहेतुभूतम्।**
**स्वात्मस्थितिं याति हि भव्यजीव:**
**तस्मै नम: स्वात्मनि निष्ठिताय।।१५३।।**

( हरिगीत )

**मुक्तिरूपी अंगना के समागम के हेतु जो।**
**भेद हैं आलोचना के उन्हें जो भवि जानकर।।**
**निज आतमा में लीन हो नित आत्मनिष्ठित ही रहें।**
**हो नमन बारंबार उनको जो सदा निजरत रहें।।१५३।।**

मुक्तिरूपी अंगना (रमणी) के संगम के हेतुभूत आलोचना के इन चार भेदों को जानकर जो भव्यजीव निज आत्मा में स्थिति को प्राप्त करता है; उस स्वात्मा में लीन भव्यजीव को नमस्कार हो।

गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इस छन्द के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''यहाँ आलोचना पर्याय को व्यवहार से मुक्ति का कारण कहा है। **वास्तव में तो आलोचना शुद्ध द्रव्य के आश्रय से प्रगट होती है, इसलिए मोक्ष का मूल कारण तो शुद्ध आत्मद्रव्य है** – ऐसे आत्मा में जो लीन रहते हैं, उन सन्तों के लिए हमारा नमस्कार हो।[३]''

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८९० २. वही, पृष्ठ ८९१ ३. वही, पृष्ठ ८९२

इसप्रकार इस छन्द में तो मात्र **उन भावलिंगी मुनिराजों को नमस्कार किया गया है; जो भगवान आत्मा के आश्रय से मुक्ति के कारणरूप आलोचना के इन चार भेदों को जानकर समभावपूर्वक निज आत्मा में स्थापित होते हैं।।१५३।।**

### नियमसार गाथा १०९

अब आलोचना का स्वरूप कहते हैं। गाथा मूलत: इसप्रकार है -

**जो पस्सदि अप्पाणं समभावे संठवित्तु परिणामं।**
**आलोयणमिदि जाणह परमजिणंदस्स उवएसं।।१०९।।**

( हरिगीत )

**उपदेश यह जिनदेव का परिणाम को समभाव में।**
**स्थाप कर निज आतमा को देखना आलोचनम्।।१०९।।**

जो जीव परिणामों को समभाव में स्थापित कर निज आत्मा को देखता है; वह आलोचन है - ऐसा जिनदेव का उपदेश जानो।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

''यहाँ आलोचना के स्वीकारमात्र से परमसमताभावना कही गई है।

सहज वैराग्यरूपी अमृतसागर के फेनसमूह के सफेद शोभामंडल की वृद्धि के हेतुभूत पूर्णमासी के चन्द्रमा समान **जो जीव सदा अन्त-र्मुखाकार, अति अपूर्व, निरंजन, निजबोध के स्थानभूत कारणपरमात्मा को सम्पूर्णतया अन्तर्मुख करके निजस्वभावनिरत सहज अवलोकन द्वारा अपने परिणामों को समता में रखकर, परमसंयमीरूप से स्थित रहकर देखता है; यही आलोचन का स्वरूप है।** ऐसा, हे शिष्य तू परम जिननाथ के उपदेश से जान।

इसप्रकार यह आलोचना के भेदों में पहला भेद हुआ।''

इस गाथा और उसकी टीका के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

''पहले तू यह जान कि वीतरागदेव आलोचना किसे कहते हैं ? यह जानकर तू अपने वीतराग परिणाम को आत्मा में स्थापित कर। **वर्तमान परिणाम स्वसन्मुख होने पर जो स्वभाव की स्वीकृति होती है, वही आलोचन है** और उसमें ही परमसमता भाव प्रगट होता है। **जो अपने अन्तरङ्ग में अपने कारण परमात्मा को देखता है, उसे आलोचन होता है।**[१]

**(शेष पृष्ठ 4 पर...)**

---

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ८९४